सफरी झोले में

अजितकुमार

सफ़री झोले में

(यात्राएँ)

अजितकुमार

'सफ़री झोले में' यों तो गद्य-रचना है - यात्राओं का एक विवरण, जबकि सामान्यत:, हिन्दी के पाठक अजित कुमार को कवि और समीक्षक मानते रहे हैं। पर यह कोई अनमेल बात नहीं, भले ही जीवन के अन्य क्षेत्रों की भांति साहित्य में भी, आज विशेषीकरण पर बल दिया जाने लगा हो और लेखक से अपेक्षा की जाने लगी हो कि ठीक-ठीक बताये, वह कौन है, क्या है?

अजित कुमार की यह रचना अपने सफ़री झोले में बहुत कुछ को समेटकर, कविता-कहानी- ललित गद्य-समीक्षा जैसे ठप्पों को नजरअंदाज करती हुई, विभिन्न विधाओं को एक बना देने वाली सृजनात्मक तारतम्यता का आभास करायेगी। इस घुलाने-मिलाने को, कोई चाहे तो घाल-मेल भी कह दे सकता है। इसमें कोई हर्ज नहीं। हम सोचते यह हैं कि कविता और समीक्षा वाले अजित कुमार के अब तक के परिचय को यह कृति आपके लिए कुछ अधिक घनिष्ट, आत्मीय और प्रीतिकर बनायेगी।

आवरण : गोबिन्द प्रसाद

सफरी झोले में यात्राएं

(यात्राएं)

जीवन-यात्रा की संगिनी

की

हमारी यात्रा समतल धरातल पर

रहे

वेग के पश्चात वाली

शिथिलता व्यापे नहीं।

क्रम		
सफ़री झोले में	:	5
मनाली की तरफ़	:	23
सतलड़ियों का एक दिन	:	32
उदयपुर: कुछ दृश्य और चेहरे	:	37
बढ़ता हुआ गाँव या पिछड़ा हुआ शहर	:	55
कश्मीर में एक महीना	:	83
सफ़र से वापसी	:	147
चार स्वप्न –यात्राओं	:	159
दीवान पर दीवाना	:	176

सफरी झोले मे

पूरा एक महीना हम घर से बाहर रहे-धर्मशाला और डलहौज़ी में- पहाड़ों, पहाड़ियों और पहाड़िनों के बीच। इस बीच हुई वही हल्की-फुल्की, अच्छी-भली बातें। बार-बार सुबह-दोपहर-शाम, दोहराई जाती वही पुरानी बातें: 'मौसम बहुत अच्छा है।' 'दिल्ली में उफ़ कितनी गर्मी होगी !', 'लगता है, पानी बरसेगा...', शाम के वक़्त यहाँ का आसमान कितना खूबसूरत हो जाता है।', 'सोचो, कभी दिल्ली में भी इतने सुहाने बादल दिखे ? नहीं न।', 'अरे, दिल्ली का आकाश भी कोई आकाश है। महज धूल, धुआँ और लाल रेता; मोटी मर्द की पर्त के पार वहाँ आकाश को देख पाना ही असंभव है। यहाँ वह कितना स्वच्छ है, दूर-दूर तक नीला, सुनहले ऊदे सफेद बादलों से रंगीन बना हुआ...', 'वे बादल नहीं, वह तो बर्फ से ढके पहाड़ों की लंबी कतारें हैं, जो आसमान को छूकर उड़ते बादलों जैसी जान पड़ती हैं...।'

'आश्चर्य होता है देखकर, पहाड़ों पर पेड़ किस तरह उगते हैं, नीची घाटी से शुरू होकर ऊपर सीधे लंबे उठते-आसमान छू लेने को उतावले – इतनी गहरी ढलान पर भी किस हिम्मत और मज़बूती से ये जमे हुए हैं...।'

'हाँ, गहरी ढलान पर भी हिम्मत और मज़बूती से जमे हुए इंसान और पेड़ शायद एक ही होते हैं। देखों न उस लंबे दयार को !-लगता है, अब गिरा, अब गिरा...।'

'बस लगता भर है वरना यह कमबख़्त न जाने कब से यों ही होगा, न जाने कब तक यों ही रहेगा...।'

एक अर्थपूर्ण हँसी। एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कान।'खुद कितना निश्चिंत है ! औरों को जोखिम में डाले हुए है।'

'नहीं, वह कह रहा है निश्चिंत रहो और रखो, गिरो मत, काटो नहीं ।'

बातें बातें !वे कितनी भी क्यों न हों, पहाड़ों पर हर समय लंबी चुप्पी छायी रहती है – सिवाय बदशक्ल पहाड़ी कौवे की उतनी ही चुभने वाली काँव –काँव के, अन्य पक्षी भी यहाँ बहुत अधिक नहीं बोलते।आश्चर्य हुआ :इतनी ज़्यादा हरियाली, तरह –तरह के इतने अधिक पेड़ । लेकिन चिड़ियाँ-और तितलियाँ सिर्फ़ गिनी-चुनी। शायद प्रकृति ने पहाड़ों को शांति के लिए ही बनाया होगा । आवाज़ यहाँ अखरती है । दूर पर भी कोई बात करे, यहाँ तक सुनाई देगा। इसलिए धीरे बोलो...कम बोलो...मत बोलो..देखो, महज़, आँख बंद कर...देखो। खिड़क, च्यू, दयार, वन, चीड़, सभी वृक्ष, छोटे-बड़े, निकट-दूर के सभी शिखर निश्चिंत सो रहे हैं । मुस्तैदी से खड़ी है केवल शिखरों पर सैनिक वृक्षों की लंबी रक्षा पंक्ति ।

अनुभव करो, चुप रहो, पर तभी मीलों दूर से कराहता, घर-घर का एक स्वर कानों में चुभने लगता है । चढ़ाई चढ़ती हुई कोई बस, डलहौजी की ओर तीस-चालीस अदद टूरिस्ट और लिए चली आ रही है । आज शाम '8' की आकृति बनाती सड़कों के चक्कर में, और दोनों चौराहों पर, कैमरों की मालाएँ टाँगे, जरूरत न होते हुए भी दिखाऊ और धराऊ ऊनी कपड़े पहने, प्यासी और 'हम भी हैं के मिश्रित भावों से युक्त आँखों वाले कुछ नये चेहरे दिखायी देंगे । कितना अजीब है – मैदान की गर्मी और भीड़ से भागकर आने वाले लोग भी यहाँ बेवजह शाल, पुलोवर और कोट से अपने को ढके रहते हैं। वे देखते-दिखाते भी है, महज दूसरों को और अपने आप को ।

डलहौज़ी में जगहजगह बैचे पड़ी थीं – सुस्ताने, नज़ारा देखने और खुद को दिखाने के लिए, इनमें कुछ तो ज़्यादातर खाली पड़ी रहती थीं,

भीड़ होती थी केवल प्रदर्शनात्मक चौराहे वाली बेंचों पर । यहाँ लोग देर तक निरूद्देश्य (!) ठहरे रहते थे- ऊपर से लापरवाही जताते, भीतर से हर नये चेहरे को भाँपते, परखते, हताश होने की हद तक आशा करते। शायद कोई परिचित जन मिल ही जाये। काश! जंगल में नाचते मोर को कोई देख ले !

दो जगहें हमारे लिए प्रिय थीं वहाँ-‘सनसेट व्यू’ और ‘स्नो व्यू’ । लेकिन देखो तो बदक़िस्मती हमारी कि सिर्फ चार-पाँच दिन ही पॉंगी घाटी पर झुकी चोटियों पर जमी बरफ़ दूर-दूर तक फैली लंबी कतार में दिखायी दी । अँधेरा घिर आने के बाद भी हम उसे खोजते, टटोलते, अनुभव करते रहते । बस, उसके बाद मानो भारी तादाद में आने वाले पर्यटकों से बदला लेने के लिए धुंध धुएँ या धूल के-न जाने किस परदे में –वह ओझल हो गयी । हमने शरण ली- ‘सनसेट व्यू’ के लिए रखी गयी बैंच पर, लेकिन सूरज का जो गोला पहले तो रोज़ शाम पहाड़ के वक्ष को चीरता-धँसता-गहराता चला जाता नज़र आया, वह भी कुछ ही दिनों बाद, पता नहीं कहाँ, धुएँ,धुंध में या बादलों में, ‘टाँय-टाँय –फिस’ होने लगा ।

भला क्यों न मैं वहँ से निनगाह हटा लेता । हाँ, निगाह हटाना तो आसान था । लेकिन फिर वह टिके कहाँ,जान पाना अक्सर मुश्किल होता है । चेहरे वहाँ काफ़ी न थे । जो थे भी, वे बेहद मामूली मुसाफ़िराना ! सफ़री टाँगें भी जल्दी-जल्दी समूचे हिमाचल प्रदेश को कुछ ही दिनों में निबटा देने के लिए बेताब दिखीं। डेढ़ दिन डलहौजी, ढाई दिन मनाली, और एक शाम धर्मशाला में बिना लो । काफ़ी है । टूरिस्ट अपने-अपने घोंसलों में वापस पहुँच जाने को बेचैन थें और जो, थोड़ा-सा वक़्त उनके पास यहाँ था भी, उसे टिकने की जगह खोजने और भोजन का जुगाड़ करने में गुजार, वे अपनी छुट्टी (पूरी) करने में दिलोजान सें लगे हुए थे । और कुछ